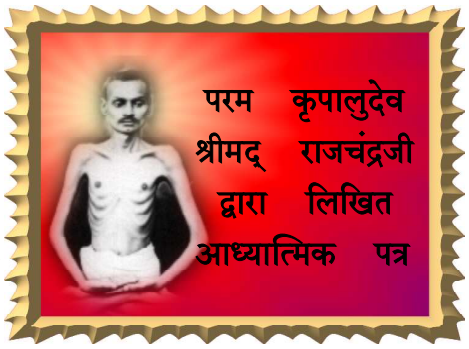

२१० बंबई, माघ वदी ३०,१९४७

सत्स्वरुपको अभेदभावसे नमोनमोः

यहाँ आनंद है। सर्वत्र परमानंद दर्शित है।

क्या लिखना? यह तो कुछ सुझता नहीं है; क्योंकि दशा भिन्न रहती है; तो भी प्रसंगसे कोई सद्वृत्ति प्रेरक पुस्तक होगी तो भेजुँगा। हमपर आपकी चाहे जैसी भक्ति हो, परन्तु सब जीवोंके और विशेषतः घर्मजीवके तो हम त्रिकालके लिये दास ही हैं।

सबको इतना ही अभी तो करना है कि पुरानेको छोड़े बिना तो छुटकारा ही नही हैं; और वह छोड़ने योग्य ही है एसा दृढ़ करना।

मार्ग सरल है, प्राप्ति दुर्लभ है।

* साथके पत्र पढ़कर उनमें जो योग्य लगे उसे लिखकर मुनिको दे दीजीये। उन्हें मेरी ओरसे स्मृति और वंदन कीजिये। हम तो सबके दास हैं। त्रिभोवनसे अवश्य कुशल क्षेम पुछिये।

***

२११ बंबई, माघ वदी ३०,१९४७

'सत्'कुछ दुर नहीं हैं, परन्तु दुर लगता है, और यही जीवका मोह है।

'सत्' जो कुछ है, वह 'सत्' ही है; सरल है, सुगम है, और सर्वत्र उसकी प्राप्ति होती है; परन्तु जिसपर भ्रांतिरुप आवरणतम छाया रहता है उस प्राणीको उसकी प्राप्ति कैसे हो? अन्धकारके चाहे जितने प्रकार करें, परन्तु उनमे कोइ एसा प्रकार नहीं निकलेगा कि जो प्रकाशरुप हो; इसी प्रकार जिसपर आवरणतिमिर छाया हुआ है उस प्राणीकी कल्पनाओंमेंसे कोई भी कल्पना 'सत्' मालुम नहीं होती और 'सत्'के निकट होना भी सम्भव नहीं है। 'सत्' है, वह भ्रांति नहीं हैं, वह भ्रांतिसे सर्वथा व्यतिरिक्त(भिन्न)है; कल्पनासे पर(दूर) है; इसलिये जिसकी उसे प्राप्त करनेकी दृढ़ मति हुई है वह पहले ऐसा दृढ़ निश्चयात्मक विचार करे कि स्वंय कुछ भी नही जानता; और फिर 'सत्'की प्राप्तिके लिये ज्ञानीकी शरणमें जाये तो अवश्य मार्गकी प्राप्ति होगी।

ये जो वचन लिखे हैं वे सभी मुमुक्षुओंके परम बांधवरुप हैं, और इनका सम्यक प्रकारसे विचार करनेपर ये परमपदको देनेवाले है। इनमें निग्रँथ–प्रवचनकी समस्त दृादशांगी, षड्दर्शनका सर्वोत्तम तत्त्व और ज्ञानीके बोधका बीज संक्षेपमें कहा हैं; इसलिये वारंवार इनका स्मरण कीजिये, विचार किजिये, समझिये, समझनेका प्रयत्न काजिये, इनके बाघक अन्य प्रकारोंमें उदासीन रहीये, इन्हींमें वृत्तिका लय किजिये। यह आपको और किसी भी मुमुक्षुको गुप्त रीतसे कहनेका हमारा मंत्र है; इनमें 'सत्'ही कहा है, यह समझनेके लिये अत्यधिक समय लगाइये।

***

स्वानुभूतिप्रकाश

वीर संवत्-२५४६ः अंक-२६५, वर्ष-२४, जनवरी-२०२०

आषाढ़ कृष्ण ३, मंगलवार, दि. ५-७-१९६६, योगसार पर पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का प्रवचन, गाथा-७१, प्रवचन-२६

यह योगसार शास्त्र चलता है। इकहत्तर वाँ श्लोक है। क्या कहते हैं? '**पुण्य को भी पाप जाने, वही ज्ञानी है।**' पाप को तो पाप सब कहते हैं। आत्मा में जो अशुभभाव-हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग, वासना के पाप को तो पाप सब कहते हैं परन्तु धर्मी जीव अपने शुद्धस्वरूप की दृष्टि होने से मेरा आत्मा शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप है- ऐसे श्रद्धा में ज्ञान में लिया है, इस कारण से धर्मी जीव तो दया, दान, व्रत, भक्ति, तप का जो शुभभाव होता है, उसे भी पाप मानते हैं। समझ में आया? उस पुण्यभाव को भी धर्मी पाप मानते हैं, क्योंकि पुण्य है, वह बन्ध का कारण है। जैसे पापभाव बन्ध का कारण है, वैसे ही पुण्यभाव भी बन्ध का ही कारण है; दोनों जहर हैं, दोनों आकुलता है। आहा...हा...! देखो!

धर्मी '**शुभ और अशुभ दोनों भावों से विरक्त रहता है...**' धर्मी जीव उसे कहते हैं कि आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप से भगवान भण्डार आत्मा भरा है, उसकी श्रद्धा और दृष्टि होने से आत्मा के स्वभाव से विपरीत जितने शुभ या अशुभभाव हैं; अशुभभाव जैसे बन्ध का कारण है, वैसे ही शुभ(भाव) बन्ध का ही कारण है। समझ में आया? एकान्त है। ए... देवानुप्रिया! एकान्त होता है, कहते हैं। देखो!

'**कर्मों का क्षय करनेवाला और आत्मा को आनन्द देनेवाला...**' कर्मक्षयकारक आत्मानन्ददायक '**एक शुद्धोपयोग को ही मान्य करता है।**' आहा...हा...! समझ में आया? आत्मा पवित्र आनन्द शुद्ध चिदानन्दमूर्ति है। जैसा सिद्धस्वभाव, परमात्मा का जैसा सिद्धस्वभाव है, वैसा आत्मा का स्वभाव अन्दर पूर्ण शुद्ध है। उसकी दृष्टि करके धर्मात्मा एक रागरहित, पुण्य-पाप के भावरहित अपने शुद्धस्वरूप के शुद्ध आचरण को ही हितकर मानते हैं। समझ में आया?

वह कर्मक्षयकारक और आत्मा आनन्ददायक है। पुण्य-पाप के भाव बन्धकारक है तो भगवान आत्मा के शुद्धस्वरूप का उपयोग - शुद्धोपयोग, वह कर्म का क्षयकारक है। पुण्य-पाप का भाव बन्धकारक है तो अपने आत्मा के शुद्धस्वभाव का शुद्धोपयोगरूपी आचरण - व्यापार कर्म-क्षयकारक है। शुभ और अशुभभाव दुःखदायक है, दुःखदायक है तो आत्मा आनन्द और शुद्ध भावस्वरूप, उसका शुद्धोपयोग, वह आनन्ददायक है। उपयोग आनन्ददायक है, समझ में आया? उपयोग आनन्ददायक है। अपने

आत्मा में पुण्य-पाप से रहित शुद्धोपयोग करना (वह आनन्ददायक है) क्योंकि पुण्य-पाप का भाव बन्धकारक है तो आत्मा का स्वभाव, उसकी श्रद्धा-ज्ञान का शुद्धोपयोग, वह कर्मक्षयकारक है। शुभाशुभभाव दुःखदायक है तो आत्मा शुद्ध आनन्दस्वरूप, उसका अन्दर शुद्ध व्यापार, शुद्ध उपयोग आनन्ददायक है। समझ में आया? कहो, समझ में आया या नहीं इसमें?

मुमुक्षु : दो नाम पड़े हैं तो दोनों के फल अलग हैं न?

उत्तर : दोनों के फल अलग कहे न! एक का पाप और एक का पुण्य, परन्तु दोनों ही बन्धन हैं, दोनों ही दुःखरूप हैं; एक मन्द आकुलता और एक तीव्र आकुलता (स्वरूप है) इतना अन्तर है परन्तु दोनों दुःखरूप हैं।

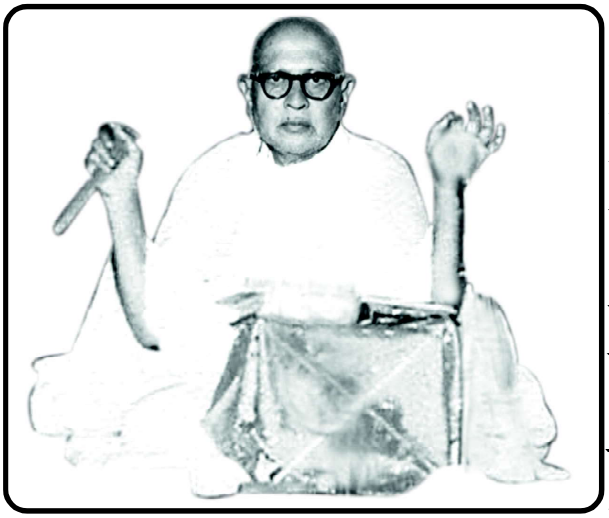

तत्पश्चात् थोड़ा स्पष्टीकरण किया है। '**सम्यग्दृष्टि अविरति होने पर भी...**' धर्मी जीव, जिसे अपने शुद्ध चैतन्यमूर्ति की रुचि, दृष्टि और परिणमन है। मैं शुद्ध आनन्द हूँ, उसकी दृष्टि है, उसकी दृष्टि पुण्य-पाप पर नहीं है। तो कहते हैं कि '**गृहस्थ में धर्म, अर्थ, काम, पुरुषार्थ साधन में अनुरक्त होने पर भी सब ही शुभ-अशुभ कार्यों को चारित्रमोहनीय उदय के आधीन होकर करता है...**' अर्थात् होने हैं, ऐसा, '**परन्तु इस सर्व काम को अपना आत्मिक हितरूप नहीं मानता...**' धर्मी जीव को शुभ-अशुभभाव आते हैं, होते हैं परन्तु उसमें अपना हित नहीं मानते। समझ में आया?

'**वह तो यही मानता है कि निरन्तर आत्मिक बाग में रमण करूँ...**' धर्मी की दृष्टि तो शुद्धात्मा पर दृष्टि है। आत्मा आनन्दस्वरूप सिद्धसमान है, उसकी दृष्टि हुई -ऐसा धर्मी, अपने आत्मा के आनन्द में रमण करूँ - ऐसी उसकी भावना होती है। पुण्य -पाप भाव होते हैं, परन्तु उनमें रहूँ, टिकू - ऐसी भावना नहीं होती। '**मैं वीतरागता का ही सेवन करूँ...**' क्या कहते हैं? देखो! आत्मा तो त्रिकाल वीतरागस्वरूप ही है, उसमें एकाग्र होकर मैं वीतरागभाव की सेवा करूँ, पुण्य-पाप की सेवा न करूँ। पुण्य-पाप होते हैं (परन्तु वे) सेवा करने योग्य, रखने योग्य, हित करने के योग्य नहीं है। '**सिद्ध भगवन्तों से ही प्रेम करूँ।**' देखो, भाषा! अपने सिद्धस्वरूप में ही प्रेम करूँ। अपना सिद्ध समान (पद) है। 'सिद्ध समान सदा पद मेरौ' आत्मा का सिद्धस्वरूप, शुद्ध द्रव्यस्वभाव, त्रिकाल शुद्ध है। उसमें प्रेम करूँ और पुण्य-पाप में प्रेम नहीं करूँ - ऐसी दृष्टि होती है।

'**(आत्मा का पुरुषार्थ अल्प होने से) कषाय का उदय सहन नहीं कर सकता।**' क्या कहते हैं? कषाय का उदय आता है तो अपने पुरुषार्थ की मन्दता से शुभाशुभभाव होते हैं, शुभ-अशुभभाव होते हैं परन्तु वह आत्मवीर्य की कमी से होते हैं। '**गृहस्थयोग्य सभी कार्य करता है**

परन्तु उसमें आसक्त या मग्न नहीं होता। पूजा-पाठ परोपकार दानादि कार्य करके वह पुण्य का बन्ध और सांसारिक इन्द्रियसुख को नहीं चाहता है।...' अज्ञानी तो पुण्य करके इन्द्रियों का सुख चाहता है। पुण्य का फल मिले, स्वर्ग मिले यह पैसा धूल मिले। धर्मी की दृष्टि अपने शुद्ध आनन्दस्वरूप पर है; पुण्य होने पर भी पुण्य का बन्ध और पुण्य के फल की चाहना नहीं है। आहा...हा...! समझ में आया?

'**वह तो कर्मरहित दशा का ही उत्साही और उद्यमी रहता है। यद्यपि शुभभावों का फल पुण्य का बन्ध है।**' शुभभाव होते हैं - दया, दान, भक्ति, व्रत, पूजा, यात्रा आदि के शुभभाव का फल पुण्य-बन्ध है। '**तथापि ज्ञानी उसे भी पाप के समान बन्ध ही जानता है।**' लो! अपना शुद्धस्वरूप... जिससे बन्धन में आ जाये - ऐसे भाव को हितरूप कैसे माने, भगवान आत्मा शुद्ध आनन्दस्वरूप में भण्डार भरे हैं। उसकी शुद्धता एकाकार प्रगट करके उसे हितरूप माने। पुण्य-पाप के भाव को हितरूप क्यों माने? दुःखदायक को, बन्ध के कारण को हितकर क्यों माने? समझ में आया?

'**धर्मी निर्वाण के पथिक हैं...**' ओहो...! ज्ञानी, आत्मा के शुद्धस्वरूप के दृष्टिवन्त, रुचिवन्त तो मुक्ति के पथिक है, बन्ध के-संसार के पथिक नहीं है। संसार का पन्थ लेनेवाले नहीं हैं। अपने शुद्धस्वरूप की दृष्टि के कारण वे तो मोक्ष के पथिक हैं, स्वरूप में एकाग्र होकर बन्ध से छूटने के पथिक हैं, बन्धन करने के पथिक नहीं हैं। समझ में आया? '**मात्र निश्चयरत्नत्रय स्वभावमय धर्म को अथवा स्वानुभव को ही उपादेय ग्रहण योग्य मानते हैं।**' लो! '**पुण्य को भी पाप समान ही जानकर वे छोड़ना चाहते हैं।**' शुभभाव आता है परन्तु जैसे पाप छोड़ने योग्य है, वैसे धर्मी पुण्य को भी छोड़ने योग्य मानते हैं। जगत् को बहुत कठिन पड़ता है। धर्म करना परन्तु धर्म कैसे हो? उसका भी पता नहीं है।

मुमुक्षु :— तीसरा था ही कहाँ, दो ही वर्ग थे?

उत्तर :— दो ही वर्ग थे पाप और धर्म; पुण्य; तीसरा था ही कब? पुण्य वह धर्म; पाप वह अधर्म, बस!

समयसार का दृष्टान्त दिया है। '**मोक्षार्थी को सर्व ही कर्म त्यागना चाहिए।**' जिसे आत्मा का पवित्रधर्म प्रगट करना है और जिसे पूर्णानन्द मोक्ष की भावना है, उसे तो सर्व पुण्य-पापभाव छोड़ने योग्य है। '**सर्व ही कर्म का त्याग आवश्यक है, तब वहाँ पुण्य-पाप की क्या कथा है? ऐसे ज्ञानी में सम्यग्दर्शन आदि अपने स्वभावसहित और कर्मरहित भाव में तन्मयरूप शान्तरस से पूर्ण मोक्ष का कारण - ऐसा आत्मज्ञान स्वयं विराजता है।**' धर्मी की दृष्टि में तो आत्मा का ज्ञान है। आत्मा का ज्ञान, स्वरूप का ज्ञान (है)। राग, पुण्य-पाप, वह कहीं आत्मा का ज्ञान नहीं है। इकहत्तर में (यह कहा है)। ज्ञानी पुण्य को भी पाप मानते हैं। कहो, समझ में आया? यहाँ तो अभी पुण्य का भी ठिकाना न हो और माने... ओ...हो...! बहुत धर्म किया!

पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा परमागमसार ग्रंथके वचनामृत-९९ पर भाववाही प्रवचन, दि.६-११-१९८२, प्रवचन क्रमांक-१७ (विषय : मार्गदर्शन)

तूँ पहले चारित्र-दोष टालने का प्रयत्न करता है। पर उसके पूर्व दर्शनशुद्धिका प्रयत्न कर। दृष्टि में विकल्प का त्याग तो करता नहीं और बाह्य त्याग कर बैठता है—यह तो मिथ्यात्व के ही पोषण का कारण है। ९९.

(गतांक से आगे...) भाई! पहले तू बाह्य त्याग का और राग—चारित्रदोष नष्ट करने का प्रयत्न करता है परन्तु पहले दर्शनशुद्धि का प्रयत्न करना चाहिये। कोई भी जीव को मोक्षमार्ग में प्रवेश करना हो तो उसे पहले दर्शनशुद्धि का प्रयत्न करना चाहिये। क्या है? ऐसा कहने के पीछे मुख्य कारण यह है कि जीव को तीव्र कषाय और मन्द कषाय के बीच माथापच्ची चल रही है और उसमें भी मन्द कषाय की महत्ता वह दे देता है। तीव्र कषाय की महत्ता छोड़ने के लिये वह मन्द कषाय को महत्ता दे देता है। मन्द कषाय को महत्ता देते वक्त वह भूल जाता है कि आखिर में तो मैं कषाय को महत्ता देता हूँ। अकषाय स्वभाव को महत्ता देने का पूरा इसमें बाकी रह जाता है।

जिस श्रद्धान में प्रथम ही श्रद्धान होने पूर्व शुद्धात्मा की पहिचान के काल में अपूर्व अकषायस्वभावी आत्मा की अपूर्व महिमा और महत्ता आती है, यह विषय पूरा बाकी रह जाता है और कषाय के अशं को, मन्द कषाय के अंश को महत्ता दी जाती है। अतः पूरा मार्ग बदल जाता है और उन्मार्ग में चला जाना होता है, यह पूरी वस्तु गलती से रह जाती है। यह बहुत बड़ी भूल है। सामान्य भूल नहीं है परन्तु यह बड़ी भूल है। और उस बाह्य त्याग और मन्द कषाय की महत्ता में पूरा मनुष्यभव हार जाने जैसा होता है। जिस मनुष्यभव में मार्ग पर चढ़ना चाहिये, वही भव पूरा हार जाता है। फिर तो कुछ ठिकाना हाथ नहीं लगता।

आज श्रावक को नीकलना आसान है, लेकिन जो मुनि बन गये हो उसको? सम्यग्दर्शन नहीं हुआ हो और गृहस्थ हो तो उसको इस ओर पलटना, सत्य विषय को समझना और ग्रहण करना, यह सरल है। लेकिन जिसने पुरुषार्थ ही उस ओर लगा दिया है और त्याग एवं मुनिपना अंगीकार कर लिया है उसको पीछे मुड़ना बहुत मुश्किल पड़ता है, अत्यंत (मुश्किल होता है)। उसमें महेनत लगती है, ज्यादा महेनत लगती है। यह तो सीधी बात है।

मुमुक्षु :— मानकषाय आड़े आता है।

पूज्य भाईश्री :— मानकषाय आड़े आता है। उसने जिस आग्रह से उस शुभभाव का सेवन किया हो, वह आग्रह अन्दर से तोड़ना पड़े। वह तो

जिसने महेनत की हो उसे सब मालूम पड़े कि इसमें कितनी महेनत करनी पड़ती है। ज्यादा ऊलटा गया हो वह अधिक दूर जाता है। जितना अधिक दूर गया उतना समीप आने में अंतर तो काटना ही पड़े। यह तो हिसाब की बात है।

कहते हैं कि, दृष्टि में विकल्प का त्याग नहीं करता है। यह एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण विषय है कि श्रद्धान में विकल्प का—राग का एक अंश, अनंतवें भाग का एक अंश भी जब तक रहे, तबतक शुद्ध श्रद्धान नहीं है। दूसरे प्रकार से अस्ति वाचर करे तो शुद्ध श्रद्धान का विषय एकान्त परिपूर्ण शुद्धात्मा है। परिपूर्ण आत्मस्वभावी शुद्ध आत्मा है, जिसमें तीन काल में कषाय का प्रतिबिंब भी नहीं उठता। कषाय पहुँचता नहीं, कषाय का प्रवेश नहीं, कषाय की उसके ऊपर छाया भी नहीं पड़ती। भले ही निगोद में गया परन्तु ज्यों का त्यों रहता है। वह तो अपने कल वचनामृत आ गया कि प्रचुर में प्रचुर अवस्था में कषाय हुआ हो तो भी शुद्धात्मा शुद्धात्म ही रहता है, यह श्रद्धान का विषय है। ऐसा जो शुद्धात्मा श्रद्धान का विषय तब बनता है कि जबतक उसे उसका श्रद्धान राग का एक अंश का भी न रहे तब।

जब तक अल्प भी राग, जो मन्द राग भी जिसे श्रद्धान में इष्ट है, (तब तक) उसे शुद्ध श्रद्धान होता नहीं। अतः दृष्टि में कहो या श्रद्धान में कहो, विकल्प का मूल से त्याग किये बिना, छोड़े बिना किसी भी प्रकार से उसे शुद्ध श्रद्धान होता नहीं और वह शुद्ध श्रद्धान हुए बिना बाह्य त्याग और कषाय की मन्दता मैंने की है (ऐसा जो मानता है), उसे वह मिथ्यात्व का पोषण है। उसे श्रद्धान तो शुद्ध होता नहीं परन्तु जो मिथ्याश्रद्धान है उसमें दृढ़ता होती है और बहुभाग गृहीत मिथ्यात्व में चला जाता है। अगृहीत तो अनादि का है ही, वह गृहीत में चला जाता है।

देखिये! असंज्ञी पंचेन्द्रिय से लेकर एकेन्द्रिय पर्यंत के, असंज्ञी पंचेन्द्रिय, चार इन्द्रिय, त्रिइन्द्रिय, द्विइन्द्रिय और एकेन्द्रिय एवं निगोद के समस्त जीव अगृहीत मिथ्यादृष्टि है। वह सब अगृहीत में है, उनको किसी को गृहीत लागू नहीं होता। जब यह जीव मनुष्य हुआ, संज्ञी पंचेन्द्रिय हुआ और गृहीत मिथ्यात्व में आता है। उसे लाभ होने के स्थान में, संज्ञी पंचेन्द्रिय को जहाँ सम्यग्दर्शन होने का, लाभ होने का अवकाश है उसमें यदि वह सम्यग्दर्शन का प्रयत्न न करे तो वह विपरीत मार्ग पर गये बिना नहीं रहता, गृहीत में चला जाता है।

इसीलिये तो अनुभवप्रकाश में साध्य-साधक के बोल लिये हैं उसमें एक ऐसी बात ली है कि अगृहीत साधक है और गृहीत साध्य है। क्या कहा? मिथ्यात्व साधक है और गृहीत मिथ्यात्व साध्य है। अगृहीत तो अनादि का है ही, वह अगृहीत तो ग्रहण किये बिना ही है। उसमें से अगृहीत का अभाव करके यदि सम्यग्दर्शन को प्राप्त न करे तो वह गृहीत मिथ्यादर्शन को प्राप्त करेगा। वह बुद्धिपूर्वक उन्मार्ग में चला जायेगा, बुद्धिपूर्वक वह अन्य मार्ग को ग्रहण करेगा। उसे ही गृहीत मिथ्यादर्शन अथवा अन्यमत कहने में आता है।

मुमुक्षु :— ऐसे ऊपर-ऊपर से देखे तो कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र को मानते नहीं है इसलिये गृहीत नहीं है।

पूज्य भाईश्री :— उसमें क्या होता है? वहाँ गृहीत कैसे होता है? कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र को माने वह तो स्पष्टरूप से गृहीत है, परन्तु ऐसा नहीं है कि बाहर में सच्चे देव-गुरु-शास्त्र को माने इसलिये सब गृहीत नहीं है ऐसा नहीं है। उसमें गृहीत और अगृहीत ऐसे दो भेद उसमें भी है। उसमें प्रथम तो जो जीवोंने सच्चे देव-गुरु-शास्त्र का स्वरूप पहचाने

बिना पद्धति से, परंपरा द्वारा वीतराग देव-गुरु-शास्त्र को मानते हैं वे सब गृहीत में है। उन्हें गृहीत लागू पड़ता है।

मुमुक्षु :— ओघे ओघे मानते हैं?

पूज्य भाईश्री :— ओघे ओघे मानते हैं। स्वरूप की पहिचान नहीं करते हैं, उनके स्वरूप का विचार नहीं करते हैं कि वे क्यों वीतराग है? कैसे वीतराग है? तो उन्हें गृहीत लागू पड़ता है। एक (बात)। अतः संप्रदाय का प्रतिशत गिन लेना।

दूसरा, तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में अब जब वह विचार के विषय में प्रवेश किया कि देव का स्वरूप ऐसा, उसमें फिर जो तत्त्वज्ञान के विषय में स्वयं के मतिदोष के कारण, ज्ञान के विपर्यास के कारण अन्यथा तत्त्व को ग्रहण करता है—एक तत्त्व में दूसरे तत्त्व का अध्यास होता है। नव तत्त्व है न कुल मिलाकर? उसमें एक तत्त्व में दूसरे तत्त्व का अध्यास होता है तब भी उसे गृहीत मिथ्यादर्शन लागू पड़ता है। ऐसा है। इसलिये उसमें सिर्फ सच्चे देव-गुरु-शास्त्र को पहिचाने तो भी... कोई ऐसा कहे कि हमने तो विचार किया है अठारह दोष रहित वीतराग हैं वे सर्वज्ञदेव हैं, वे देव हैं। बाह्याभ्यंतर निग्रंथ गुरु हैं-अभ्यंतर परिग्रह और बाह्य परिग्रह के त्याग सहित निग्रंथ मुनि हैं, सातवें-छठवें गुणस्थान में झुलनेवाले शुद्धात्मदशा के साधक, उत्कृष्ट साधक हैं वे गुरु हैं। और उनके द्वारा निरूपित सिद्धांत हैं जिसमें, सत्शास्त्र हैं वह सत्शास्त्र है। यह तो हम बराबर मानते हैं। परन्तु ऐसा स्वीकृत करने के बाद भी तत्त्व के विषय में अन्य स्थान में कहीं भी गड़बड़ी हो तो भी वहाँ गृहीत मिथ्यादर्शन लागू पड़ता है। ऐसा है।

मुमुक्षु :— अर्थात् बंधमार्ग को संवर माने?

पूज्य भाईश्री :— बंधमार्ग को संवर माने अथवा तो वस्तु स्वरूप के विषय में अन्यथा माने। अभी हमारे यहाँ एक प्रश्न बहुत पेचीदा प्रश्न आत्मा के प्रदेश के विषय में हुआ था।

मुमुक्षु :— अभी भी चल रहा है।

पूज्य भाईश्री :— आप तो परीचित हो। उसमें से थोड़ी बात निकालनी है। प्रश्न कोई भी हो कि भाई! आत्मा के दो प्रदेश या एक प्रदेश? द्रव्य के प्रदेश और पर्याय के प्रदेश भिन्न-भिन्न का विषय था। आशय समझे नहीं और वास्तव में उस तरह दो प्रदेश समझ ले तो गृहीत में चला जाता है। क्योंकि वस्तु स्वरूप का द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से जो निरूपण है उसमें भूल हुई। किसमें भूल हुई? पदार्थ का जो निरूपण है द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावयुक्त स्वचतुष्ट जिसे कहने में आता है, उस स्वचतुष्ट में ही उसकी भूल है। क्योंकि उसमें क्षेत्र आया न? द्रव्य, क्षेत्र। क्षेत्र में असंख्य प्रदेश आये। वहाँ वह गृहीत मिथ्यादर्शन हो गया।

वह विषय परम अध्यात्म का है। जहाँ त्रिकाली के प्रदेश भिन्न और पर्याय के प्रदेश भिन्न कहते हैं (व) एकदम परम अध्यात्म का (विषय है)। वह जो निरूपण है वह परम शुद्ध निश्चयनय के विषय में ले जाता है। उसका यथायोग्य प्रकार से स्वीकार न करे और उसके प्रयास में न जाये और उस तरह उसे न लिया जाये, जिस तरह लेना चाहिये उस तरह न लिया जाये और अन्यथा ले ले कि प्रदेश ही भिन्न है (तो) गृहीत मिथ्यादर्शन में चला जाये।

अब, इसमें से क्या निकलतशा है? एक ध्यान खींचने जैसी बात करता हूँ कि ऐसे तो अनेक प्रश्न हैं। हमारे तत्त्वज्ञान के विषय के क्षेत्र में इतना विस्तार है कि ऐसे अनेक प्रश्न है और वह प्रश्न जब सामने आये, विचार में आये ही न हो उसे तो अभी वह दोष लागू पड़ने का सवाल नहीं है परन्तु जब वह उसके उदयवशात् उसके क्षयोपशम

समक्ष आये, उसकी श्रद्धा-ज्ञान की जाँच का विषय बने, यह सामने आये तब तो परीक्षा का विषय होता है न! तब उसे इतना आत्मार्थी बनकर उस विषय में गहराई में उतरना चाहिये कि उसका पता लेना चाहिये, तबतक उसे छोड़ना नहीं चाहिये। और उसमें भी उस विषय के अधिकृत ऐसे साधक जीवों के पास से उसे समाधान लेना चाहिये, उतना ही नहीं वह समाधान उसे स्वयं को स्वतंत्ररूप से बैठे नहीं तबतक उसे उसका पीछा नहीं छोड़ना चाहिये। परम भक्ति से, परम आदर से उस विषय को समझने का प्रयत्न करना चाहिये।

यद्यपि श्रीमद्जी ने तो आज्ञा ही की है कि द्रव्यानुयोग सत्पुरुष के संयोग में परम वैराग्य, दृढ़ वैराग्य और दृढ़ भक्तिभाव से अध्ययन करने योग्य है, इतनी मर्यादा बाँधी है। क्या? श्रीमद्जी ने तो यह मर्यादा बाँधी है कि द्रव्यानुयोग यूँ ही अध्ययन करने योग्य नहीं है। अन्यथा तूँ कहाँ का कहाँ चला जायेगा, गृहीत मिथ्यात्व में चले जाने में देर नहीं लगेगी।

मुमुक्षु :— उन्होंने लिखा है न कि शास्त्रज्ञान से निबेड़ा नहीं है, अनुभवज्ञान से निबेड़ा है।

पूज्य भाईश्री :— अनुभवज्ञान से निबेड़ा है। परन्तु द्रव्यानुयोग के विषय में तो यह मर्यादा बाँधी है। सत्पुरुष के वचन से आध्यात्मिक शास्त्र भी आत्मज्ञान का हेतु होता है, परमार्थ आत्मा शास्त्र में नहीं वर्तता है, सत्पुरुष में वर्तता है। यह ... नंबर का पत्र है। 'प्रत्यक्ष सत्समागम में वैराग्यादि दृढ़ साधनसहित, मुमुक्षु को सद्गुरुआज्ञा से द्रव्यानुयोग विचार करने योग्य है।'

मुमुक्षु :— आपने जो बात करी कि जबतक बात सामने नहीं आयी हो तबतक दिक्कत नहीं है, परन्तु सामने आये तब कोई ऐसा कहे कि हमें यह सब खटपट में नहीं पड़ना है, तो क्या होगा?

पूज्य भाईश्री :— खटपट नहीं है परन्तु यह तो वस्तु का स्वरूप है। यह तो वस्तु का स्वरूप है और उसका निर्णय करना पड़ता है। वस्तु के स्वरूप का निर्णय करना यह भी यदि तुझे खटपट लगती हो तो इसके अतिरिक्त विषय खटपट रहित लगा? इसके अतिरिक्त सब विषय ही खटपटयुक्त है।

मुमुक्षु :— हमे तो सूक्ष्मता में जाना नहीं है, व्यवहार तो बराबर चलता है।

पूज्य भाईश्री :— सूक्ष्मता में नहीं जाना है क्योंकि सूक्ष्मता खटपट लगती है और स्थूल बात है वह? वह तो उसे स्वयं का हित सूझा नहीं है। जिसे सूझा है वह तो ऐसा कहता है... आप को कोई ऐसा कहे कि भाई, आप सब्जी-तरकारी का व्यापार करते हो और ठेला लेकर घुमते हो तो आइये और मेरी हीरे की दुकान पर बिठाता हूँ। इन्द्रवदनभाई ऐसा कहे कि आइये, पंचरत्न में हीरे की दुकान पर और मैं ऐसा कहूँ कि, नहीं, नहीं मेरा सब्जी का ठेला बराबर है। भाग्य फूट गया है, दूसरा कुछ नहीं। विशेष लेंगे...

ट्रस्ट के इस स्वानुभूतिप्रकाश के हिन्दी अंक (जनवरी-२०२०) का शुल्क उपकृत मुमुक्षुवृंद के नाम से साभार प्राप्त हुआ है। जिस कारण से यह अंक सभी पाठकों को भेजा जा रहा है।

पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा परमागमसार बोल नं-१३४ पर हुआ भाववाही प्रवचन. दि.१२-१२-१९८२, प्रवचन नं. ४१. (विषय :- मार्गदर्शन/प्रेरणा)

प्रथम पर्यायका लक्ष्य छूड़वाकर, पश्चात् गुण-गुणीके भेदका लक्ष्य छूड़वाया है। क्रम डालकर समझानेके सिवाय अन्य किस रीतिसे समझाये? इसलिए कहते हैं कि पर्यायको अन्तरमुखी कर और साथमें जो गुण-गुणीके भेद हैं, उनको तिरोधान कर दे, अदृश्य कर दे, ढक दे - ऐसा कहा जाता है। वस्तु जो द्रव्य है, याने कि चेतन ऐसा द्रव्य और चैतन्य उसके गुण - ऐसे भेदको ढककर एक अभेदको लक्ष्यमें ले। यह तो तीन लोकके नाथकी दिव्यवाणी है। अनन्तकालमें जो नहीं किया उसे करनेके लिए यह है। १३४

आत्मा की पहिचान करके अनुभव करने की रीत क्या है, विधि क्या है, यह विषय समझाते हैं। '**प्रथम पर्यायका लक्ष्य छूड़वाकर, पश्चात् गुण-गुणीके भेदका लक्ष्य छूड़वाया है।**' पर्याय का लक्ष्य छुड़वाया है। वह ऊपर के बोल में दूसरी पंक्ति में बात ली थी कि '**ज्ञान की जो वर्तमान पर्याय है, उस पर तो अनादि से लक्ष्य है,...**' उस ज्ञान की पर्याय में भी जो ज्ञेय ज्ञान में ज्ञात होते हैं, रागादि ज्ञेय अथवा परज्ञेय, उसमें परलक्ष होता है और स्वभाव पर लक्ष्य जाता नहीं। वह तो उघाड़ का कहो अथवा ज्ञेय का लक्ष्य कहो, यह सब पर्यायलक्ष्य के कारण से है।

पर्याय का लक्ष्य अर्थात् वर्तमान अवस्था जितना मैं, उतना ही मैं, जैसा ही मैं, ऐसा ही मात्र पर्याय का हूँपने अनुभव, उसको '**छूड़वाकर, पश्चात् गुण-गुणीके भेदका लक्ष्य छूड़वाया है।**' शुद्धात्मा में भी जो अभेद स्वरूप में जो गुणभेद है उसका भी लक्ष्य छुड़वाया है। यानी कि गुणभेद है उसका अवलंबन भी छुड़वाया है। लक्ष्य है उसका अवलंबन है। जिसका लक्ष्य उसका अवलंबन है। वास्तव में ऐसा है।

यानी आत्मा में अनेक गुण हैं। अनेक गुणरूप विशिष्टताएँ हैं उसका भी लक्ष्य छुड़वाया है। भिन्न-भिन्न प्रकार की विशिष्टताएँ, भिन्न-भिन्न गुणों का भी अभेद अनुभव में लक्ष्य करने योग्य नहीं है। गुणभेद अथवा विभिन्न गुण वस्तु के अपने स्वस्थान में भले ही हो, गुण के स्थान में गुण भले ही हो, शक्ति अनेक शक्तिरूप भले ही हो, परन्तु उन शक्तिओं को भिन्न-भिन्नपने उसके स्वरूप को देखने में रुकना, भिन्न गुणों के स्वरूप को देखने में रुकना उसमें पूरी वस्तु का अभेद अवलंबन नहीं होता और एक राग का विकल्प उत्पन्न होता है, रागरूप विकल्प उत्पन्न होता है ऐसा एक दुषण उसमें से उत्पन्न होता है।

परपदार्थ के लक्ष्य से और परपदार्थ के अवलंबन से राग होता ही है, यह तो समझाना बाकी नहीं रहा। यहाँ तो जो गुण त्रिकाल है उस गुण का भिन्न भेद पड़े तो भी राग की उत्पत्ति हो ऐसी एक नैसर्गिक परिस्थिति है। राग उत्पन्न होने के कारण का यदि विचार किया जाये तो मूल में यहाँ तक यह कारण लंबाता है। अनेक प्रकार के बाह्य पदार्थ और पाँच इन्द्रियों के विविध

विषयों के अवलंबन से तो राग हो ही और वह सब तो अशुभराग का प्रकार है। वहाँ से चलकर दया, दान का जो विषय है अथवा शुभराग का विषय जो देव-गुरु और शास्त्र है वह भी सब भी परपदार्थ के अवलंबन से राग की उत्पत्ति होती ही है। उसमें राग की उत्पत्ति नहीं होने का सवाल नहीं है। इसलिये स्व के आश्रय से मोक्ष है ऐसा कहा है। पराश्रय से तो चार गति है। पराश्रय के फल में तो चारों गति के परिणाम हैं। फिर सामने परद्रव्य के रूप में साक्षात् परमात्मा हो तो भी उनके लक्ष्य से और उनके आश्रय से उसका फल- उस आश्रय का फल चार गतिमें से एक गति है। फिर भले देव गति में जाये, मनुष्यगति में जाये, परन्तु है वह भी चार गति का कारण। और गतियों को परमार्थ से दुर्गति कही है। अन्दर-अन्दर भले ही शुभ-अशुभ के भेद छाँटे हो, परन्तु चारों गति को परमार्थ से दुर्गति कही है। क्योंकि चारों गति में दुःख है। कोई गति में सुख है ऐसा नहीं है।

देवगति में जन्मे तब उसे प्रगट दुःख अनुभव में नहीं आता, परन्तु मरे तब उसे बहुत दुःख अनुभव में आता है। वह तो संयोग का और वियोग का कारण है। जैसे संयोग में हर्ष हो और वियोग में दुःख हो, ऐसा कारण है। क्योंकि वहाँ तो कुमार अवस्था में जन्म होता है। मनुष्य एवं तिर्यंच और नारकी की भाँति नहीं है। लेकिन सीधी ही कुमार अवस्था होती है और अंत तक कुमार अवस्था ही रहती है। वहाँ किसी को बचपन का या वृद्धावस्था नहीं होती। सीधा कुमार अवस्था में वहाँ उत्पन्न होना होता है। और उस समय कोई अशाता उत्पन्न नहीं होती है। खाली शैया होती है, पलंग होता है वहाँ से, जैसे कोई आलस छोड़कर बैठ जाता है, उस तरह कुमार युवावस्था में ही हास्य सहित उसका—जीव का वहाँ आना होता है। वैक्रियक शरीर सीधा कुमार अवस्था को धारण करता है। और उससे निम्न कक्षावाले पुण्यवाले देव उस वक्त उसका स्वागत करते हैं। उसके जो नौकर जैसे होते हैं, हीन पुण्यवाले देव होते हैं, नौकर जैसे गिने जाते हैं ऐसे देवयोनि के अन्य देव उसका स्वागत करते हैं। स्वागत करते हैं अर्थात् हम कैसे अगवानी करते हैं, ऐसे बाजा, नृत्य, यह-वह ऐसी सब धमाल चलती है। उसे कोई ख्याल नहीं आता है कि इसमें दुःख क्या चीज है।

उसको मरण की बहुत कड़ी आकुलता है। क्योंकि जन्म के साथ ही उसे.. यह मिथ्यादृष्टि देवों की बात चलती है, जन्म के साथ ही उसने इतने चीकने रस से सुख और सुख की कल्पना और उल्लास की कल्पना में इतना राचना होता है कि देह छूटने के छः महिने पहले ही उसे ख्याल आता है और तुरन्त उसका आर्तध्यान शुरू हो जाता है। क्योंकि यहाँ अच्छा फर्निचरवाला घर छोड़कर जाना सुहाता नहीं है, वहाँ वह वैभव छोड़कर जाना कैसे सुहाये? उसे भगवानने दुर्गति कही है।

'**परदव्वादो दुग्गइ**' परद्रव्य के आश्रित दुर्गति होती है और उस परद्रव्य में समस्त परद्रव्य समाविष्ट हैं, उसमें कोई अपवाद नहीं है। साक्षात् परमात्मा का भी उसमें अपवाद नहीं है। स्वयं ने नहीं रखा है। कहा तो भगवान ने है न? जाहिर तो भगवान ने, प्रसिद्ध तो उनकी वाणी में किया। उन्होंने स्वयं का भी अपवाद नहीं रखा है। ऐसा नहीं कहा है कि मेरे अलावा अन्य का आश्रय करोगे तो दुर्गति होगी। एक मेरा आश्रय करो। 'माम एक शरणम्...', गीता में आता है। एक मेरी शरण तू अंगीकार कर, अध्यात्म में तो ऐसा उतारते हैं कि निज स्वरूप को तू अंगीकार कर।

वह तो समस्त परद्रव्य राग का कारण है इसलिये चार गति का कारण है, परन्तु स्वद्रव्य में भी द्रव्य-गुण-पर्याय के भेद का लक्ष्य और आश्रय राग का कारण है। इतना प्रतिबंध तो स्वद्रव्य के आश्रय के विषय में है तो परद्रव्य के आश्रय के लिये तो कोई चर्चा करने का स्थान नहीं रहता कि परद्रव्य का आश्रय राग का कारण नहीं होता।

जब स्वद्रव्य में भी शर्ताधीन आश्रय है कि एक अभेद द्रव्य का अवलंबन ही वीतरागभाव का कारण है। और पदार्थ के पर्यायभेद और गुणभेद का अवलंबन भी जहाँ राग का ही कारण है, वहाँ परद्रव्य की क्या कथा करनी? उसकी तो कोई लंबी बात करने जैसा नहीं है। यहाँ यह विषय है।

मुमुक्षु :— परद्रव्य का लक्ष्य राग, राग यानी बंध, बंध यानी संसार?

पूज्य भाईश्री :— हाँ, स्वद्रव्य में भी स्वद्रव्य के भेद के लक्ष्य से राग है। अभेद के लक्ष्य से राग नहीं है। इतनी शर्त है। अभेद स्वभाव के लक्ष्य से अथवा अभेद स्वभाव के आलंबन से वीतरागभाव उत्पन्न होता है। और स्वद्रव्य में रहे पर्यायभेद अथवा गुणभेद, इन कोई भी भेद के अवलंबन से अथवा लक्ष्य से राग की उत्पत्ति होती है। हुए बिना रहे ही नहीं। यह वस्तुविज्ञान है।

मुमुक्षु :— गुणभेद का अवलंबन यानी...?

पूज्य भाईश्री :— अवलंबन माने क्या? कि ऐसा एक गुण मेरे में है ऐसा भेद पड़ता है। ऐसा एक गुण, ज्ञान नाम का एक मेरे में है, सुख नाम का गुण मेरे में है। ज्ञान का लक्षण भिन्न, सुख का लक्षण भिन्न ऐसा जो भेद का अवलंबन है वह राग और विकल्प को उत्पन्न करता है। जब पदार्थ को पहिचानने का प्रसंग है तब भले ही ऐसा भेदविकल्प हो, परन्तु वह पहिचानने के स्टेज में पहिचानने की विधि पूरी हुई उसके बाद ऐसे जो पहिचानने के लिये भेद विकल्प है उसका प्रयोजन नहीं है, उसकी आवश्यकता नहीं है।

जब क़ीमती हार पहना हो तब अन्दर कितने नंग है और कितनी क़ीमत है उसके विचार में रुके तो आनन्द नहीं आयेगा। और आनन्द में रुके तो वह विचार नहीं आयेगा। यह अनुभव से उसका प्रमाण है। सौ रुपये की एक किलो मीठाई बादाम और पिस्ता की बनवायी हो। भाई! क्या दाम है? १२० किलो का भाव है। अब जब उसे खानी हो तब उसको खाने के आनन्द में रहना पड़े, रहना चाहिये। इसमें कितनी बादाम इस्तमाल की है और कितना घी इस्तमाल किया है उसके विचार में जाये तो उसे आनन्द में अंतराय पड़ेगा। अभेद के अवलंब से आनन्द का भोग शक्य है। बाहर में यदि ऐसा है तो अन्दर में तो वह सवाल ही नहीं रहता। यह सीधा अनुभव से समझ में आये ऐसा विषय है।

स्वद्रव्य के आश्रय से वीतरागभाव होता है तो भी इसमें इतनी शर्त है कि स्वद्रव्य के गुण-पर्याय के भेद वह मात्र पहिचानने तक ही भेद का उपयोग है। पहिचान होने के बाद उस भेद का उपयोग कार्यकारी नहीं है, साधक नहीं है अपितु बाधक है। साधक तो नहीं है लेकिन बाधक है। इसलिये समझाने के समय की ऐसा कहते हैं कि आत्मा के विषय में जब द्रव्य-गुण-पर्याय का ज्ञान करवाते हैं तब पर्याय का लक्ष पहले छुड़वाकर गुण-गुणी के भेद का भी लक्ष्य छुड़वाया है। क्योंकि यह रीत और विधि का विषय है न इसलिये।

मुमुक्षु :— गुण और स्वभाव में क्या अंतर है?

पूज्य भाईश्री :— गुण है वह पूरे अखंड स्वभाव का एक अवयव है। स्वभाव है वह अवयवी

है और गुण उसका एक अवयव है। स्वभाव अनंतगुणविशिष्ट है और गुण है वह एक-एक उसकी विशेषताएँ है। अनंत विशिष्टताओंमें प्रत्येक गुण है वह उसकी एक-एक विशिष्टता है। इसप्रकार गुण और गुणी, उसे गुणी कहते हैं, गुणवान हो उसको गुणी कहते हैं। जे समस्त गुणोवाला है वह स्वभाव गुणी है। स्वभाव और स्वभाववान इसप्रकार है।

मुमुक्षु :— ज्ञानी को अवलोकनपूर्वक अवलंबन आता है या सीधा अवलंबन आता है?

पूज्य भाईश्री :— उसमें सब का एक समान नहीं है। उग्रता होती है उसको सीधा ही आता है। किसी को पहले विकल्प उत्पन्न होते हैं। सोगानीजी की चर्चा में यह बात ली है कि आत्मा का ध्यान करना, तब पहले सोहम्... सोहम्.. सोहम्.. ऐसा एक विकल्प करने में आता है। ऐसे विकल्पपूर्वक ध्यान होता है। उसमें तो गुण-गुणी भेद की सोहम्—वह मैं... वह मैं... वह मैं.. परन्तु वह और मैं इतना भेद है उसमें। यह प्रश्न उठाया है।

ध्यान यानी एकाग्रता। एकाग्रता होने पूर्व ऐसा विकल्प होता है। तो कहते हैं, ऐसा मंद पुरुषार्थ हो तब विकल्प उत्पन्न होता है। विकल्प का नियम यह है। मोक्षमार्गी जीव को, साधक जीव को विकल्प का नियम क्या है? कि मोक्षमार्गी जीव धारावाहीरूप से, सहजपने निरंतर अपने स्वरूप के पुरुषार्थ में वर्तते ही हैं। उनको कदापि स्वरूप का पुरुषार्थ नहीं है ऐसा नहीं है। उस पुरुषार्थ में क्या है? कि स्वरूप का अवलंबन है। स्वरूप के मंद अवलंबन के पुरुषार्थ में विकल्प की उत्पत्ति होती है। उसी पुरुषार्थ में तीव्रता आती है तब विकल्प का अभाव होकर वीतरागभाव से अनुभव होता है। इसप्रकार विकल्प का और रागांश उत्पन्न होने का कारण मोक्षमार्गी जीव को मात्र मंद पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ की मंदता यह राग की उत्पत्ति का कारण है। वही पुरुषार्थ तीव्रता धारण करे तब राग उत्पन्न होना बंद हो जाता है। राग उत्पन्न नहीं होता इसलिये राग का अनुभव नहीं है। हो उसका अनुभव हो न? नहीं हो उसका अनुभव होने का सवाल नहीं रहता। अतः उसमें व्यक्तिगत भिन्न-भिन्न विषय है।

'**क्रम डालकर समझानेके सिवाय अन्य किस रीतिसे समझाये?**' जब समझाना है तब तो क्रम से जो प्रोसेस जिस प्रकार है उस प्रोसस को समझानेपर उसकी जो क्रम से भूमिका है वह स्टेज अनुसार समझाने में आती है। '**इसलिए कहते हैं कि पर्यायको अन्तरमुखी कर और साथमें जो गुण-गुणीके भेद हैं, उनको तिरोधान कर दे, अदृश्य कर दे, ढक दे - ऐसा कहा जाता है।**' गुण-पर्याय का नाश नहीं होगा। पर्याय पर्यायपने रहेगी, गुण गुणपने रहेंगे और ऐसा जो प्रत्येक पर्याय का व्यतिरेकपना है—भिन्न-भिन्नपना है वह उसका भेद है। प्रत्येक गुण का स्वतंत्र स्वरूप है वह उसका भिन्न भेद है। एक गुण से दूसरे गुण का भेद है। वह भेद भेद में भले हो, परन्तु तेरे ज्ञान में, श्रद्धान में, अवलंबन में उसे तू ढक दे, उसका लक्ष्य नहीं रहना चाहिये। उसका ज्ञान भले रहे लेकिन उसका लक्ष्य नहीं होना चाहिये। लो, ऐसा है।

ज्ञान होना एक बात है, लक्ष्य होना दूसरी बात है। लक्ष्य वह भी ज्ञान की ही पर्याय है फिर भी लक्ष्य बिना का ज्ञान भी संभवित है और लक्ष्य सहित का ज्ञान भी संभवित है। दो प्रकार से ज्ञान होता है। जब भगवान आत्मा अनुभव में आता है तब उस आत्मा का (अनुभव का) लक्ष्य नहीं है। ये ट्राफिक में लो न। ट्राफिक में से गुजरते हैं तब सैंकडो लोग और सैंकडो वाहन सामने मिलते हैं। कितनी साइकिल, कितनी बाईसिकिल, कितनी

गाड़ीयाँ, कितने लोग, बैलगाड़ी, लारी सामने मिलते हैं, परन्तु लक्ष्य नहीं है। जिसे त्वरा से आगे निकल जाना है, उस ट्राफिकमें से निकल जाना है उसे ज्ञान होता है। यदि ज्ञात न हो तो एक्सिडेन्ट हुए बिना रहे नहीं। अतः ज्ञात नहीं होता है ऐसा नहीं कह सकोगे। और फिर भी उसका लक्ष्य नहीं है यह बात तय है। उसे, घोघा दरवाजे से खार दरवाजे पर पहुँचने के बाद पूछो कि कितने लोग सामने मिले? उस पर हमारा लक्ष्य नहीं था। हमें तो जल्दी इस ओर आना था, इसलिये वहाँ कोई हमारा लक्ष्य नहीं था। इस तरह लक्ष्य बिना जानना होता है। ज्ञान रहना एक बात है, लक्ष्य रहना दूसरी बात है। द्रव्य-गुण-पर्याय के भेद का ज्ञान होना एक बात है और द्रव्य-गुण-पर्याय के भेदों का लक्ष्य होना बिलकुल दूसरी बात है। और यह जीव को आता है, अन्यथा ऐसा पूछेगा कि यह लक्ष्य कैसे उड़ाना?

यहाँ कहा न? कि वह '**गुण-गुणीके भेद हैं, उनको तिरोधान कर दे,...**' लक्ष्यमें से उसे उड़ा दे ऐसा कहना है। '**अदृश्य कर दे,...**' अर्थात् तू उड़ा दे, उसे लक्ष्यमें से उड़ा दे। वह कैसे करना? ऐसा प्रश्न करे तो वह अस्थान में प्रश्न है। वह करता ही है, उसे आता ही है। जैसे वह बाहर में बिना लक्ष्य से चलता है, वैसे यहाँ भी वह लक्ष्य बिना परिणमन कर सकता है।

मुमुक्षु :— ज्ञान अनंत का और श्रद्धा एक की ऐसा हुआ।

पूज्य भाईश्री :— ज्ञान चाहे जितनों का— अनंत का हो सकता है। उसमें कोई सवाल नहीं है। लक्ष्य करने की आवश्यकता नहीं है। जिसका-जिसका ज्ञान हो उसका लक्ष्य करना चाहिये ऐसा कहीं सवाल नहीं है। मनुष्य नहीं कहते हैं? कि भाई! हम सब मिले उसमें बहुत लोग थे, अतः हम मिले थे सही परन्तु मैं भूल गया हूँ कि आप और हम मिले थे या नहीं। अथवा पहिचान करवाई हो और भूल जाता है। क्योंकि उस वक्त लक्ष्य दूसरा होता है और औपचारिकता से मिले होते हैं। हाँ, ठीक है, कैसे हो, जय जिनेन्द्र! बात खत्म जाओ। बनता है कि नहीं? लक्ष्य रहित जितनी क्रियाएँ होती है उसमें एक तो रस नहीं रहता। वह ज्ञान की रसविहिन प्रक्रिया है। पर पदार्थ का, राग का अथवा गुणभेद का, पर्यायभेद का लक्ष्य न रहे तब उसका रस रहे यह सवाल भी नहीं रहता। साथ-साथ उसका रस उत्पन्न नहीं होता। अतः उसमें भेद का रस है वह भी उत्पन्न नहीं होता।

(२३:०० मिनट तक, प्रवचन का शेष अगले अंक में...)

स्वानुभूतिप्रकाश पत्रिका सम्बन्धित

सत्श्रुत प्रभावना ट्रस्टकी ओरसे प्रकाशित हो रही स्वानुभूतिप्रकाश मासिक पत्रिकाके एड्रेस सम्बन्धित किसी भी प्रकारका फेरफार, नाम डलवाना, कटवाना इत्यादिके लिये निम्नलिखित नंबर पर अपना ग्राहक क्रमांक लिखकर वोट्स एप करनेकी विनती। प्रशांतभाई जैन, मो. ९३७७१०४८६८

पूज्य बहिनश्री की वीडियो तत्त्वचर्चा
मंगल वाणी-सी.डी.४ C

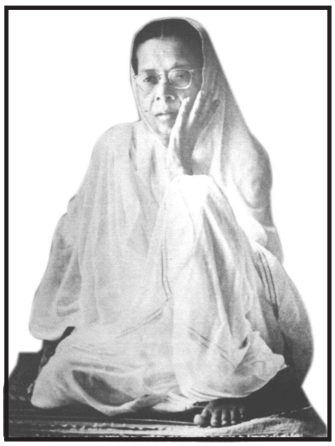

मुमुक्षु :- एक अंतिम आशंका है, वह आपको पूछ लूँ। शास्त्र तो छठ्ठे-सातवें गुणस्थान में महामुनिओंने लिखे हैं। ज्ञानीपुरुष चतुर्थ गुणस्थान में हो, तो शास्त्र लिखनेवाले तो उनसे विशेष है और उस शास्त्र में कहे अनुसार अर्थ करे और ज्ञानी को गौण करे तो उसमें कोई अविनय होता है?

समाधान :- शास्त्र आचार्योंने लिखे हैं और चतुर्थ गुणस्थानवाले हैं, फिर भी उस प्रकार का प्रयोजनभूत ज्ञान तो उसके पास भी है। प्रयोजनभूत ज्ञान है और खुद यदि मार्ग को प्राप्त नहीं किया है और शास्त्रोंसे समझ रहा है तो मूल मार्ग को जानने के लिये और प्रयोजनभूत तत्त्व को जानने के लिये उसे ज्ञानी का आश्रय आये बिना रहता नहीं। प्रयोजनभूत तत्त्व, चतुर्थ गुणस्थानवालेने स्वानुभूति का मार्ग उसने जाना है, मुक्ति का पंथ उसने जाना है तो खुदने यदि प्राप्त नहीं किया है तो उसे आश्रय आये बिना रहता नहीं। (सिर्फ) शास्त्रसे वह मूल प्रयोजनभूत तत्त्व को जान नहीं सकता अन्दरसे। जानता है तो वह अपनी बुद्धिसे जानता है तो भी उसे आश्रय आये बिना रहता नहीं, खुद को प्राप्ति नहीं हुई है तबतक जिसने प्राप्त किया है उनका आश्रय आये बिना रहता नहीं। एक अंश मुक्ति का पंथ जिसने जाना है उसमें केवलज्ञान पर्यंत का मार्ग आ जाता है। फिर शास्त्रों के दूसरे अर्थ, चरणानुयोग, करणानुयोग इत्यादि उसमें नहीं आता हो, लेकिन मूल प्रयोजनभूत तत्त्व साधना का मार्ग सम्यग्दर्शन प्राप्त करे उसमें आ जाता है। केवलज्ञान पर्यंत का मार्ग उसमें आ जाता है। कितने ही व्यवहार के कथन उसमें नहीं आये, लेकिन प्रयोजनभूत मार्ग उसके पास आ गया है। खुद जानता नहीं हो तो उसे आश्रय आये बिना रहता नहीं।

मुमुक्षु :- माताजी! एक बात आपने बहुत सुंदर कही, ऐसा हो तो पात्रता भी नहीं है। खुदसे जो बड़े हैं उनके लिये यदि उसे समझने का या सुनने का सद्भाव नहीं आता तो फिर तो पात्रतामेंसे भी वह जाता है।

समाधान :- जाता है, ऐसी जिज्ञासा उसे रहनी चाहिये।

मुमुक्षु :- ये तो खुद को कहीं दोष रह जाता हो तो स्पष्टता हो।

समाधान :- प्रयोजनभूत तत्त्व को जानने के लिये उसे अन्दरसे भावना रहनी ही चाहिये। शास्त्र में भले ही सब आ जाता है, शास्त्र में आचार्य के सब कथन आ जाते हैं, फिर भी रहस्य खोलनेवाले, जिसे स्वानुभूति प्रगट हुई है उनके पाससे जो रहस्य मिले वह अपनेआप निकालना तो मुश्किल है। गुरुदेव स्थानकवासी में थे तब ये सब तो कहाँ जानते थे कि स्वानुभूति किसे कहते हैं। हिन्दी में और सब जगह अन्दर स्वानुभूति होती है, वह कहाँ समझते थे। समयसार को छोड़ देते थे। बाहर में ही धर्म मान रखा था। ये क्रियामेंसे और इसमेंसे धर्म होगा। अन्दर स्वानुभूति होती है और अन्दर चिदानंद, सहज चिदान्द आत्मा का कंटाला आता था। सब हिन्दी में भी। स्थानकवासी तो देरावासी में तो कुछ था ही नहीं। लेकिन गुरुदेवने कहा कि अन्दर स्वानुभूति होती है और अन्दर मार्ग है, वह मार्ग उन्होंने अन्दरसे स्वानुभूतिसे

प्रकाशित किया। शास्त्र तो सब थे लेकिन कोई समझता नहीं था। क्षयोपशमज्ञान तो बहुतों को था और सब शास्त्र कंठस्थ भी किये थे, रहस्य तो गुरुदेवने खोला। निश्चय-व्यवहार की संधि तो उन्होंने की। निश्चयनय और व्यवहारनय के पाठ बोलते थे। निश्चय इसे कहते हैं और व्यवहार इसे कहते हैं, सात नय इसे कहते हैं। उन सबका रट्टा मार लेते थे, पढ़ लेते थे। मूल निश्चय किसे कहते हैं द्रव्य के आश्रयसे, उसका अर्थ-भावार्थ गुरुदेवने प्रगट किया। सब रट्टा मार लेते थे, ऋजूसूत्र इसे कहते हैं, नैगमनय इसे कहते हैं, उसमें घड़े का और पानी का दृष्टांत आये उसका रट्टा मार लेते थे। उसका अध्यात्म गुरुदेवने प्रगट किया।

स्वानुभूति, आत्मा विकल्प छूटकर उसपार बिराजता है, निर्विकल्प दशा स्वानुभूति प्रगट होती है, उसप्रकार की महिमा किसीको नहीं थी, सब ऐसे ही (चलता) था। पूरा मार्ग प्रकाशित किया। कौन जानता था? शास्त्र तो सब थे। सब धवल कंठस्थ किये, तत्त्वार्थ सूत्र किया, सब संस्कृत टीकायें कंठस्थ थी तो क्या हुआ? रहस्य अन्दरसे आये बिना कहाँ-से हो?

मुमुक्षु :- गुरुदेव का और वर्तमान में आप का महान-महान उपकार है कि इसप्रकार अर्थ को समझ सकते हैं, कुछ भाव पकड़ पाते हैं, यह सब उपकार ज्ञानियों का है।

समाधान :- भावसहित उनकी जो शैली आये, भाव ऐसे आश्चर्यसे आये तो दूसरों को असर होती है। बोलनेमात्र पाठमात्र बोले शास्त्रमेंसे, शब्द बोले आत्मा सहज चिदानंद, आदि पाठ बोले लेकिन वह कोई असर नहीं करता। वह तो मात्र पाठ रह जाता है। ये तो अन्दरसे दूसरे लोग डोलने लगे, ऐसी गुरुदेव की वाणी थी तो अंतर में असर कर जाती थी। उनका ज़ोर, निःशंकता और अपूर्वता लगे उससे दूसरों को असर होती है। वाणीसे ऐसे असर होती है। पाठ तो बहुत लोग बोल लेते हैं। शास्त्र तो सब थे। अब गुरुदेव की इतनी वाणी सुनी, सब को श्रवण हुई इसलिये सब अर्थ करना सीखे हैं कि इसका अर्थ ऐसा होता है, इसका ऐसा अर्थ होता है। शास्त्र में सब की बुद्धि चलती है वह गुरुदेव के प्रतापसे चलती है। शास्त्र में बुद्धि कहाँ किसीकी चलती थी? गुरुदेवने इतना स्पष्ट किया इसलिये सब (बोलने लगे कि), द्रव्य इसे कहते हैं, पर्याय इसे कहते हैं, निश्चय इसे कहते हैं, व्यवहार इसे कहते हैं। इसका व्यवहार पर ज़ोर आया, इसे निश्चय का ज़ोर आया, इसे ऐसा आया ऐसा सब करना सीखे हैं, वह गुरुदेव के प्रतापसे। नहीं तो कोई शास्त्र का समझ नहीं सकता था। बाहर के अर्थ करते थे। निमित्त आये तो कोई निमित्त तो चाहिये न, ऐसा तो कुछ चाहिये न, इतनी थोड़ी क्रिया तो चाहिये न। ऐसे कहीं न कहीं थोड़े-थोड़े में पड़े रहते थे। गुरुदेवने ज़ोरसे कहा। उनकी वाणी आयी (तो) सबके आग्रह छूट गये। अब सब अर्थ करना सीखे हैं। सब गुरुदेव के प्रतापसे। शास्त्रमेंसे अर्थ करना भी गुरुदेव के प्रतापसे सीखे हैं। शास्त्र के अर्थ तो रट्टा मारने जैसा करते थे सब। रट्टा मारते हो ऐसे।

पूज्य बहिनश्री की वीडियो तत्त्वचर्चा
मंगल वाणी-सी.डी.५ A

आत्मा पहचाने बिना भव का अभाव होता नहीं और वास्तविक अन्दरसे विकल्प छूटते नहीं। मन्द होते हैं, कषाय मन्द होता है, शुभभाव होता है, वह सब होता है। लेकिन आत्मा को पहचाने तो सच्चा होता है। उसके लिये स्वाध्याय करे, वांचन करे, विचार करे। आत्मा क्या है उसका ध्येय रखे, जिज्ञासा

रखे तो होता है। आत्मा को पहचाने बिना होता नहीं। अनन्त काल में बहुत किया है। मुनिपना लिया है, सब किया लेकिन आत्मा को पहचाना नहीं। त्याग किया, सब किया लेकिन आत्मा को पहचाना नहीं। कषाय मन्द करे और जिनेन्द्रदेव-गुरु-शास्त्र की भक्ति इत्यादि सब किया लेकिन भव का अभाव हुआ नहीं। देवलोक मिला, लेकिन वहाँ-से संसार वैसे ही चालू रहा।

गुरुदेव तो आत्मा को पहचानने की ही बात करते थे। आत्मा को पहचाने। आत्मा जाननेवाला ज्ञायक महिमावंत है, सब आत्मा में है, बाहर में कुछ नहीं है। ऐसा अन्तरसे निर्णय करे तो होता है। मंगलाबहेन के साथ स्वाध्याय करते हैं?

मुमुक्षु :- : कहते थे, क्रिया करते हैं लेकिन इसमें कुछ नहीं मिलता।

समाधान :- क्रिया में कुछ मिलता नहीं। अन्तर आत्मा को पहचाने तो होता है।

मुमुक्षु :- क्रिया करते हैं लेकिन मन अन्य स्थान में भटकता है। क्योंकि सूत्र सब आते हैं इसलिये ऐसे ही बोल लेते हैं।

समाधान :- लेकिन मन दूसरे स्थान में भटकता हो, बाहरसे पाठ बोले। भाव कोई नहीं हो और शुभभाव करे उसमें ध्यान रखे तो भी मन्द कषाय होता है, शुभभाव होता है तो सामान्य पुण्य होता है। लेकिन उसमें आत्मा का कुछ आता नहीं, आत्मा पहचानने में नहीं आता। आत्मा को पहचानने के लिये सद्गुरु क्या कहते हैं, गुरु क्या कहते हैं, गुरुदेवने क्या कहा है, उसका विचार करे। सत्य स्वरूप समझे तो आत्मा पहचानने में आये।

मुमुक्षु :- वांचन में चंदुभाईने बहुत अच्छा समझाया।

मुमुक्षु :- :

समाधान :- ठीक है। श्रम बहुत लगा।

मुमुक्षु :- .. उनको उद्वेग ही रहा करता है। उनको शांति कैसे मिले, उसके लिये वांचन,... वे तो एकदम .. रहनेवाले हैं।

समाधान :- फेरफार तो होते ही रहते हैं। भूल जाना एक उपाय है, दूसरा क्या हो सकता है? संसार में तो ऐसा चलता ही रहता है, क्या हो? संसार तो ऐसा ही है। चतुर्थ काल में भी आयुष्य तो पूर्ण होते थे। सागरोपम के आयुष्य और सब आयुष्य पूर्ण होते हैं। चक्रवर्ती और मुनियों सब मुनि होकर चल देते थे। मनमें-से सब निकालकर वैराग्य धारणकर चले जाते थे। ये सब भूलने जैसा ही है। अनन्त काल में कितनों को छोड़कर यहाँ आया और स्वयं को छोड़कर दूसरे चले जाते हैं। ऐसा तो चलता ही रहता है। यह कोई नवीन नहीं है। मनुष्यजीवन तो मुश्किलसे मिलता है। उसमें ऐसा योग मिला। गुरुदेव (मिले) और यह सब श्रवण करने मिला तो यह सब भूल जाने जैसा है। ऐसा सुन्दर स्थान और आपको गुरुदेव की वाणी कितनी मिली है, गुरुदेव का लाभ कितना मिला। वह सब सर्वोत्कृष्ट था, बाकी तो यह सब पुण्य का था। पुण्य के फेरफारसे सब फेरफार होता है। पुण्य तो शाश्वत रहता नहीं। उसमें फेरफार होता है। तो भी सर्वसे अच्छेसे अच्छा पुण्य तो वह कि गुरु मिले वह सबसे अच्छा पुण्य है।

मुमुक्षु :- उन्होंने तो भाव भी कितने अच्छे रखे थे।

समाधान :- कितने अच्छे भाव रखते थे। आपको तो इतने भाव है तो मनमें-से यह सब निकाल देना।

मुमुक्षु :- आपके दर्शनसे शांति मिलती है। मामा की भक्तिसे प्रमोद आ जाता है।

समाधान :- क्या हो सकता है? संसार तो ऐसा ही है। याद आये लेकिन भूले बिना छूटकारा नहीं है।

मुमुक्षु :- माताजी! लोगोंने उनके लिये बहुत किया। सायन में एक बगीचा है...

समाधान :- पीछेसे आते थे, उनके साथ ले गये। यह सब भूलने जैसा है, क्या हो सकता है? आपके जसाणी कुटुम्ब में सब कैसे थे। वह सब भूलना ही पड़ता है। भूलना पड़ता है, क्या हो? नानालालभाई, मोहनभाई आदि सब कैसे थे!

मुमुक्षु :- ...

समाधान :- वह सब जैसे भूलना पड़ता है, वैसे यह सब भी भूलनेसे ही छूटकारा है। वे सब कैसे व्यक्ति थे! नानालालभाई, मोहनभाई, बेचरभाई..। वह सब भूलना ही पड़ता है, भूले बिना छूटकारा नहीं। यह सब भूलना ही है। एक गुरुदेव ऐसे मिले और गुरुदेव का लाभ आप सब को कितना मिला है। जसाणी कुटुम्ब को। गुरुदेव वहाँ ठहरते थे, यह सब लाभ यादकरके आनन्द करो। क्या हो सकता है? संसार तो ऐसा ही है।

मुमुक्षु :- जयंतिभाई को तो सुनाई नहीं देता था, फिर भी यहाँ आते थे।

समाधान :- हाँ, कितना रस था! संसार तो भूले बिना छूटकारा नहीं। वैराग्य का कारण हो ऐसा है यह संसार तो। इस संसार में जन्म-मरण ऐसे हैं, ऐसा विचारकर स्वयं को आत्मा का (हित) कर लेने जैसा है। संसार का स्वरूप ऐसा है। बड़े चक्रवर्ती चले जाते हैं तो इसका क्या हिसाब? चक्रवर्ती जब जाते होंगे तब कैसा होता होगा? चक्रवर्ती जब दीक्षा लेकर चले जाते हैं, तब क्या होता होगा? चक्रवर्ती जब जाते हैं तब उनकी सब ऋद्धियाँ एकदम चली जाती है, वह कैसा होता होगा? चतुर्थ काल में भी ऐसा सब बनता है तो यह तो पंचमकाल है। भूले बिना छूटकारा नहीं है। चक्ररत्न प्रगट हुए होते हैं वह सब चले जाते हैं। उनकी ऋद्धियाँ जो चक्रवर्ती के उदयसे होती है वह ऋद्धियाँ चली जाती हैं, तो उनके कुटुम्बियों को कैसा होता होगा? संसार तो ऐसा ही है। सब वैराग्य धारणकर चल देते हैं। सब भूलने जैसा है। इस मनुष्यजीवन में गुरुदेव मिले यह याद करने जैसा है।

मुमुक्षु :- अभी तो आपकी शरण है, यह हमारा महाभाग्य है।

समाधान :- बदले बिना छूटकारा नहीं है। गुरुदेवने जो धर्म कहा है, उस धर्म पर ही चित्त लगाना, (बाकी सब) भूलने जैसा है। संसार तो ऐसा ही है। आदमी जब चला जाता है तब उसके गुण याद आते हैं। गुण याद आये लेकिन फिर दुःख लगानेसे कोई लाभ नहीं होता, भूले बिना छूटकारा नहीं।

मुमुक्षु :- आपकी वाणी सुनकर सुख-साता होती है।

समाधान :- पलटे बिना छूटकारा नहीं है। कोई उपाय है? उसका कोई उपाय है? चाहे जितना दुःख हो, चाहे जितने गुण याद आये, तो भी उसका कोई उपाय है? जो मनुष्य जाता है वह कोई उस स्वरूप में, उसप्रकारसे कोई आता है? कोई आता नहीं। इसलिये राग छोड़कर, विचारकरके बदल देना एक ही उपाय है। उसका कोई उपाय नहीं है। चाहे जितनी याद आये, जो जाता है उसका भव दूसरा हो जाता है। देव में जाता है तो वह मनुष्य उसही स्वरूप में वापस नहीं आता। चतुर्थ काल हो तो ऊपरसे देव आते हैं, देव के रूप में। लेकिन वह मनुष्य जिस स्वरूप में था उसही स्वरूप में कोई आता नहीं।

द्रव्यदृष्टि प्रकाशमें से दृष्टि का परिणमन और द्रष्टि का विषय सम्बन्धित पूज्य श्री निहालचंद्रजी सोगानीजी के चयन किये गये वचनामृत

परिणाम अपना है; तो भी उसको आप खुद ही (कर्ताबुद्धि से) पलट नहीं सकते। परिणाम में कर्ता-कर्मपने का धर्म है, इसलिए वो तो पलटेगा ही। जब दृष्टि बाहर झुकी है; दृष्टि का प्रसार अपने को छोड़कर बाहर में है; तो परिणाम भी बाहर झुकेगा। और यदि दृष्टि अपने स्वभाव की ओर है, तो परिणाम भी अपनी ओर झुकेगा।

अपने को तो परिणाम भी पलटाना (फेरफार करना) नहीं है। 'मैं' अपरिणामी हूँ और पलटना मेरा धर्म ही नहीं है; वह तो परिणाम का धर्म है। दृष्टि की अपेक्षा से शुद्ध परिणाम भी मेरेसे अलग ही है; ज्ञान उसको अपना अंश जान लेता है। १९.

***

'मैं स्वयं ही वर्तमान में भगवान हूँ' - (इसमें) भगवान होना भी क्या है?.... अपने स्वभाव में दृष्टि का प्रसार होते, पर्याय मेरी ओर झुकते-झुकते, पर्याय में केवलज्ञान - सिद्धदशादि होती ही है; परंतु मुझे तो इससे भी प्रयोजन (दृष्टि) नहीं है। २३.

***

विभाव तो मेरे से बहुत दूर है। यह तो परिणाम (शुद्धपर्याय) भी मेरेसे भिन्न है। 'मैं तो अपरिणामी हूँ' - एक समय के परिणाम के साथ नहीं बहता। २६.

***

'मैं' (त्रिकाली) परिणाम में नहीं जाता। (त्रिकाली स्वभाव में अपनापन होनेसे) परिणाम सहज ही मेरी ओर आता है। २९.

***

'मैं वर्तमान में ही परिपूर्ण हूँ, कृतकृत्य हूँ, मुझे कुछ करना-धरना ही नहीं है' - ऐसी दृष्टि होनेपर, परिणाम में आनंद का अंश प्रकट होता है; और बढ़ते-बढ़ते पूर्णता हो जाती है। ३०.

***

दृष्टि का विषयभूत द्रव्य एकांत कूटस्थ ही है। पर्याय की अपेक्षा से पर्याय एकांत अनित्य ही है। (- यह सम्यक् एकांत है।) ३२.

***